

कल्पवृक्ष महुआ

शेख इमरान उल्लाह





लेखक परिचय

शेख इमरान उल्लाह - सहायक शिक्षक (पंचायत) के पद पर नगरी, जिला धमतरी (छ.ग.) में कार्यरत हैं। उनकी शैक्षणिक योग्यता एम.काम., एम.ए. (इतिहास) है। वे हिन्दी, छत्तीसगढ़ी तथा उर्दू में कविता लिखते हैं। उन्होंने आदिवासी का महुआ से सम्बन्ध तथा कमार (आदिवासी) की बाजार पर निर्भरता पर शोध किया है। उन्होंने वर्ष 2004 में पानी बचाव के उद्देश्य से खारून नदी के उद्गम से संगम तक 250 कि.मी. की पदयात्रा की है। वर्ष 2001 में उन्हें जिला युवा पुरस्कार मिला है।

संपर्क

मोबाईल नं.- 9424290204

E-mail id- imranullah14379@gmail.com

C - कापी राइट - शेख इमरान उल्लाह

ई प्रकाशन - आलोक शुक्ला प्रकाशन

अनुक्रमणिका

क्र.	अध्याय	पेज
1	प्रस्तावना	4
2	महुआ एक परिचय	7
3	महुआ में पोषक तत्व	14
4	महुआ और आदिवासी संस्कृति	15
5	महुआ का धार्मिक महत्व	25
6	महुआ और आदिवासी अर्थव्यवस्था	27
7	महुआ और स्थानीय ज्ञान व तकनीक	30
8	आदिवासी परंपराओं में बदलाव	42

प्रस्तावना

आदिवासी संस्कृति हजारों साल पुरानी है जिसे हम इतिहास की बंदिशों में बांधकर चंद वर्कों में नहीं समेट सकते. आदिवासी प्रकृति के साथ ताल-मेल बढ़ाकर या यूँ कहें कि प्रकृति की गोद में खेलते हुये, उसके व्दारा प्रदत्त वस्तुओं से अपना जीवन निर्वाह करते हैं. प्रकृति इनके जीवन के हर पहलू से जुड़ी है. इनके रीति-रिवाज, त्यौहार, शादी, जन्म, मृत्यु सभी में प्रकृति का जुड़ाव साफ नजर आता है. प्रकृति के बिना इनके अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती.

आदिवासी संस्कृति के हर पहलू को छूता, प्रकृति व्दारा उपहार में दिया गया, ऐसा पेड़ है, जिसके बिना हम आदिवासी वजूद की कल्पना भी नहीं कर सकते. वो है “महुआ”. आदिवासी संस्कृति में जन्म से मृत्यु तक कोई भी कार्य इसके बिना पूर्ण नहीं होता है. एक वक्त था जब इसका उपयोग कई तरह से किया जाता था लेकिन आज इसकी पहचान केवल शराब बनाने की वस्तु के रूप में ही बची है. महुआ आदिवासी समाज को जहां एक ओर सांस्कृतिक पहचान देता है वहीं दूसरी ओर उन्हें आर्थिक

रूप मजबूती भी प्रदान करता है. समाज की आर्थिक गतिविधियों का बड़ा हिस्सा महुआ के पेड़, फूल, फल व इससे बनने वाली शराब के इर्द-गिर्द ही घूमता रहता है.

कहते हैं आदिवासी संस्कृति में बच्चे के जन्म, शादी एवं मृत्यु में महुआ की शराब के बिना रस्में नहीं होतीं. नवजात बच्चे में मुंह में चंद बूंदे महुआ शराब की डाली जाती हैं, तब उसे सामाजिक मान्यता मिलती है. इसी तरह शादी में दुल्हा-दुल्हन को भी शराब पीना अनिवार्य है. बराती तो पूरे शबाब पर होते हैं. मौत के बाद लाश के मुंह में भी चार बूंदे महुआ शराब की डाली जाती हैं. ये रस्में अनिवार्य हैं जिसका पालन आदिवासी समाज सदियों से करता आ रहा है.

मन में बरबस ही ये सवाल पैदा होता है कि सदियों से आदिवासी समाज महुआ से भावनात्मक रूप से जुड़ा हुआ है तो क्या इसका उपयोग केवल शराब तक ही सिमटा हुआ है, या इसका इस्तेमाल और भी तरह से होता रहा है, जिसे वक्त की धूल ने दबा दिया हो. तो हमारा फर्ज बनता है कि उन धूलों को साफ कर महुआ को उसकी खोई हुई पहचान दिलाने की एक कोशिश की जाए.

इसी सिलसिले में मैं कई लोगों से लगातार सम्पर्क में रहा. कई तरह के सवाल किए. जवाब मिलने में काफी वक्त लगा क्योंकि आदिवासी समाज आज भी अपने विचारों को खुल कर नहीं रखते. ये स्वभाव से ही शर्मीले होते हैं. खासतौर पर अपनी परम्पराओं व संस्कृति पर बाहर वालों से बिल्कुल भी बातचीत नहीं करते. मुझे आदिवासियों की शराब बनाने की विधि देखने की बड़ी तमन्ना थी. मैं करीब 30-35 लोगों से सम्पर्क कर आग्रह किया था कि मुझे शराब बनाने की परम्परागत विधि देखनी है, अपने घरों में देखने का मौका दें. करीब दो-ढाई महीने की लगातार कोशिश के बाद एक महिला ने मुझे अपने घर में महुआ की शराब बनाने की विधि दिखाई. मुझे लगता है कि शायद ये समाज अपनी वर्षों पुरानी परम्पराओं को इसलिये भी बाहर वालों से छुपाता है कि वे लोग इन्हे पिछड़ा हुआ समझते हैं. उनके मन में कहीं न कहीं ये भाव ज़रूर है कि आधुनिकता के इस दौर में उनकी संस्कृति पिछड़ेपन के द्योतक के रूप में उन्हें शर्मसार करती है.

शेख इमरान उल्लाह

महुआ एक परिचय



महुआ को मूल रूप से भारतीय पेड़ माना जाता है। ये यहां की उष्णकटिबंधी जलवायु में पनपता है। दोमट मिट्टी इसकी प्रगति में अहम रोल अदा करती है। हमारे देश में महुआ उत्तर एवं मध्य क्षेत्र में ज्यादा पाया जाता है। ये मुख्यतः छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, झारखण्ड, आंध्रप्रदेश, तेलंगाणा, बिहार, उड़ीसा, गुजरात में मिलता है। कुछ पेड़ केरल में भी मिलते हैं। इसके बहुत से नाम हैं। क्षेत्र व प्रदेश के हिसाब से इसके नामों में कुछ परिवर्तन लाजिमी है। ये महुआ, महबा, बन-महुआ, महुला, मोहा, मोवा, बटर-ट्री, महुआ-ट्री, आदि नामों से जाना जाता है। इसके वैज्ञानिक नाम (Scientific name) भी अनेक हैं। ये *Bassia Latifolia* (बेसिस लटिफोलिया), *Bassia*

latifolia (बेसिया लतिफोलिया), Madhuca Longifolia (मधुका लोन्सीफोलिया), Madhuca Indica (मधुका इंडिका) आदि वैज्ञानिक नामों से जाना जाता है.

एक छोटे से महुये का इतने सारे नाम ! तो जनाब इसकी उपयोगिता भी बहुत है. इसका पेड़ 50-70 फीट ऊंचाई का काली मटमेली छाल वाला होता है. ये आम-इमली के पेड़ों की तरह ज्यादा घना नहीं होता है। चन्द शाखें होती हैं. इनमें वो मजबूती नहीं होती कि इनका फर्नीचर में इस्तेमाल किया जा सके. इसका उपयोग जलाऊ लकड़ी की तरह होता है. ये पेड़ पूरी तरह से प्रकृति द्वारा प्रदत्त होते हैं. मानव द्वारा इसके पौधे लगाने के बहुत कम मामले ही सामने आते हैं. शायद इसकी एक वजह इस पेड़ की लम्बी उम्र भी है. लोगों की ज़रूरतें जो पेड़ प्रकृति में लगे हुए पेड़ों से ही पूरी हो जाती है, और लोग नये पेड़ लगाने की ज़रूरत ही महसूस नहीं करते. हालांकि नये पौधे नहीं रोपे गये तो एक दिन ऐसा आयेगा कि इनकी नस्ल पर वजूद का खतरा पैदा हो ही जायेगा.

महुआ के पत्ते की अधिकतम लम्बाई 31 सेमी., चौड़ाई 13 सेमी है. ये 8 सेमी. के डंठल पर लगा होता है. महुआ

का पेड़ बड़े पत्तों वाले पेड़ों में शामिल है. आदिवासी इसके पत्तों से अपने भोजन करने के लिए “पतरी” (दोना पत्तल) बनाते हैं. इसके पत्ते व डाली तोड़ने पर एक किस्म का दूध निकलता है जो सफेद, मीठा व चिपचिपा होता है, जिसे स्थानीय लोग गोंद की तरह चिपकाने के लिये इस्तेमाल करते हैं. जब आदिवासी अपने जिस्म पर गुदना-गुदाते हैं (टैटू बनवाते) हैं जो कि इनकी सांस्कृतिक पहचान भी है तो प्रत्येक स्त्री-पुरुष व बच्चे के लिए अनिवार्य है कि जिस्म में गुदने का डिजाइन बनाने के लिए महुए की डाली का दूध ही इस्तमाल किया जाये. गुदना गुदाने के बाद महुए के पत्तों को जलाकर गुदने के ऊपर रगड़ा भी जाता है.



महुवे के झाड़ में नवम्बर के तीसरे-चौथे सप्ताह से कली निकलने लगती है, जिसे स्थानीय भाषा में कुची कहते हैं. कूची शाख के ऊपरी किनारे पर गुच्छों में लगती है. इसका रंग हरा होता है. यही कूची आगे चलकर महुआ बनती है. इस प्रक्रिया में एक से डेढ़ माह का वक्त लगता है. अविकसित रूप में महुआ हरा होता है. पूर्ण विकसित रूप में इसका रंग संतरा व सुन्हरा पीला हो जाता है. महुआ जनवरी के दूसरे सप्ताह से झड़ने लगता है. शुरु में इसकी मात्रा कम होती है. यह मुख्य रूप से फरवरी से अप्रैल में झड़ता है. महुआ झड़ने के समय पतझड़ शुरु हो जाता है. जब महुआ झड़ता है तो पेड़ में पत्ते नहीं होते. सभी पत्ते झड़ चुके होते हैं, केवल महुआ के गुच्छे पेड़ पर होते हैं. जैसे-जैसे मौसम गर्म होता जाता है महुआ भी उसी रफ्तार से झड़ता है। अगर किसी दिन मौसम ठंडा हो जाय तो महुआ भी कम झड़ता है.

महुआ एकत्र करने से पहले पेड़ के नीचे सफाई की जाती है. झाड़ू लगाकर व लीपकर उस जगह को साफ किया जाता है । इससे महुये को उठाने में आसानी होती है व उसमें मिट्टी व दूसरी गंदगी नहीं चिपकती है. महुआ एकत्र करने का काम ज्यादातर महिलायें व पढ़ने वाले

बच्चे करते हैं. बच्चे स्कूल व कालेजों की अपनी किताबों को साथ लेकर जाते हैं और वहीं अपनी परीक्षा की तैयारी भी करते रहते हैं. पुरुष इस काम को कम ही करते हैं. इसकी बड़ी वजह है, कि इसके लिये बड़े ही इतमिनान की ज़रूरत है. एक जगह आपको घंटों बैठना पड़ता है और पुरुषों के पास रोज़मर्रा के पचासों काम होते हैं, जिसकी वजह से उनका एक ही जगह रुकना मुश्किल होता है.

मेरे मन में ये सवाल पैदा हुआ कि लोग महुआ झड़ने के इंतजार में वक्त क्यों खराब करते हैं? वे बांस से या डाल को हिलाकर भी तो महुआ को झड़ा सकते हैं, जैसे हम बेर या दूसरी चीजों को झड़ाते हैं. एक ग्रामीण बुजुर्ग ने इसका बड़ा अच्छा जवाब दिया - महुआ फूल है, जब फूल झड़ता है तो उसी जगह फल लगता है जो हमारे लिये बहुत उपयोगी है. अगर हम बांस या दूसरी तरह से झड़ाएं तो फूल के साथ नन्हा फल भी झड़ जायेगा. बांस की चोट से इसकी कमजोर डाली भी टूट जायेगी जिससे हमें फूल व फल दोनों से हाथ धोना पड़ सकता है.

ताजा झड़ा हुआ महुआ सुन्हरा पीला व हल्की सी लालिमा लिये होता है. ये एक इंच लम्बा अण्डाकर, रसीला व मीठा

होता है. इसे दबाने से रस निकलता है. इसे घर लाकर सुखाया जाता है. दो-तीन दिन में ये अच्छी तरह सूख जाता है. फिर उसे बाजार में बेच दिया जाता है. इससे अच्छी खासी आय हो जाती है. बड़े पेड़ों में एक क्विंटल तक महुआ की पैदावार हो जाती है. फूल की जगह फल लगता है जिसे स्थानीय भाषा में “टोरी” कहते हैं. टोरी को जून से अगस्त के बीच पेड़ों से तोड़ा जाता है. ये छोटे अमरूद की तरह गोल होती है. ये दो-ढाई इंच मोटी होती है. इसे फोड़कर इसका बीन (बीज) अलग किया जाता है. टोरी को पक्षी व मवेशी बड़े चाव से खाते हैं. जंगल में हिरण, तोता आदि इसके पेड़ के आस-पास ही दिखते हैं. टोरी के छिलके की सब्जी बनाकर खाई जाती है. साथ ही पालतू मवेशियों को भी खिलाया जाता है. इसका टेस्ट भी मीठा होता है.

बीज से तेल निकाला जाता है. वास्तव में ये वनस्पति घी होता है, जो सामान्य तापमान पर जमा हुआ रहता है. स्थानीय लोग इसे टोरीतेल कहते हैं. इसे खाद्य तेल की तरह इस्तेमाल तो किया ही जाता है साथ ही ये बहुत अच्छा वेसलीन भी होता है. इसे बदन हाथ-पैर, होंठ में

लगाते हैं. इससे त्वचा फटती नहीं है. ऐड़ी फटने की तो ये कारगर दवा है.



महुआ में पोषक तत्व

नेशनल इंस्टीट्यूट आफ न्यूट्रीशन (NIN) हैदराबाद ने महुआ के पोषक तत्वों की सूची जारी की है। प्रति 100 ग्राम महुआ पर (per 100 gm of Mahua)

111	kcal energy
73.6 g	moisture
1.4 g	Protein
1.6 g	Fat
0.7 g	Minerals
22.7g	Carbohydrate
45 mg	Calcium
22 mg	Phosphorous
0.23 mg	Iron
307 μ g	Carotene (Vitamin A)
40mg	Vitamin C

महुआ और आदिवासी संस्कृति

आदिवासी संस्कृति में महुआ का विशेष स्थान है। फिर चाहे खान-पान हो या धार्मिक अनुष्ठान हो, सभी में महुआ इनके साथ होता है। आदिवासी अपने किसी भी अनुष्ठान में देवता पर महुये की शराब व फूल चढ़ाते ही हैं। इसके बगैर इनका अनुष्ठान पूरा नहीं होता है। मैंने समाज के लोगों से पूछा कि महुआ दारू तो समझ आती है लेकिन सिर्फ महुए का ही फूल क्यों चढ़ाते हैं? हमारे आस-पास तो कई किस्म के फूल हैं। दूसरे फूल क्यों नहीं चढ़ाते? लोगों ने बड़ा प्यारा जवाब दिया। उन्होंने कहा कि यही फूल असली फूल है, क्योंकि इसके सूखे हुये फूल को भी पानी में डालने पर ये फिर से ताजा होकर अपने वास्तविक रूप व आकार में आ जाता है। बाकी फूलों में ये खासियत नहीं होती है। उनका जवाब सुनकर मैं हैरान रह गया। हमने इस नजरिये से इसे देखा ही नहीं था।

शादी में महुआ की लकड़ी का मड़वा (जहां शादी की रस्में की जाती है) अनिवार्य होता है। कहीं-कहीं साल की लकड़ी भी साथ में होती है। इसके बिना शादी नहीं होती है। महुआ की लकड़ी को दूल्हे का प्रतीक व साल की लकड़ी

को दुल्हन का प्रतीक माना जाता है. शादी में एक लोक गीत भी गाया जाता है, जिसमें महुआ का वर्णन होता है.

माघ खाले महुआ।

फागुन में चार।।

जिनगी में मजा नी है।

बोली में है सार।।

अर्थात् - माघ के आखिर में महुआ और फागुन माह में चार होता है. इन दोनों के बगैर जिन्दगी में कोई मजा नहीं है. कहने का यही सार है।

आदिवासी संस्कृति में महुए का उपयोग कई किस्म से होता है. विशेषकर खान-पान में इसका महत्व है. पहले महुआ से शराब के अलावा कई किस्म के खाद्य पदार्थ बनाये जाते थे, किन्तु वक्त की मार के आगे सब बेबस हैं. आज की पीढ़ी इन स्वादिष्ट व पौष्टिक खाद्य पदार्थों के नाम भी नहीं जानती है. मैं उस आखिरी पीढ़ी के बुजुर्गों से मिला जिन्होंने इन पौष्टिक खाद्य पदार्थों को चखा है. कुछ ने अपने हाथों से बनाया भी है. कुछ के

माता पिता द्वारा इन खाद्य पदार्थों को बनाया जाता था. इनसे बातचीत में जो कुछ पता चला बड़ा ही रोचक रहा.

महुआ से बनने वाले खाद्य पदार्थ: -

- 1) **महुआ की रोटी** : - कन्की (चावल के छोटे-छोटे टुकड़े जिसे खंडा भी कहते हैं) या धान का भूसा (कोढ़ा) को भीगे हुए महुए के साथ मिलाकर पीसते हैं. फिर हाथों से थपकी लगाकर मोटी रोटी बनाई जाती है, जिसे पत्तों के बीच रख अंगार में सेंका जाता है. महुए की कुदरती मिठास इसमें समाई रहती है, जिससे इसका स्वाद मीठा होता है. लोगों ने बताया कि 1965 भीषण अकाल में इस रोटी का बहुत प्रचलन था. महुए की रोटी ने ऐसे दुर्गम क्षेत्रों में हजारों लोगों की जान बचाई थी जहां सरकारी सहायता पहुंचने में महीनों लग जाते हैं. विज्ञान के नजरिये से ये बहुत पौष्टिक होती है. पर आज की पीढ़ी इससे अनजान है.
- 2) **गंजीकांदा और महुआ**: - जंगलों में मिलने वाले गंजीकांदा और महुआ को साथ में उबालकर पकाते हैं.

भोज्य पदार्थ की तरह इसे भी खाया जाता था. प्रकृति द्वारा प्रदत्त ये भोज्य पदार्थ कभी यहां के आदिवासियों का मुख्य भोजन हुआ करता था. वर्तमान में इसका भी प्रचलन नहीं है.

- 3) महुआ, तिल, गुड़ का लड्डू: - महुए को भूँजकर, भूनी हुई तिल व गुड़ को मिलाकर लड्डू बनाया जाता है. पौष्टिकता से भरपूर ये लड्डू जिस्म में आयरन की कमी को दूर करता है. खासकर औरतों व गर्भवती माताओं के लिए इसका सेवन बहुत ही लाभप्रद है, लेकिन इसका इस्तेमाल भी आज बंद हो गया है.

- 4) पेज - जायकेदार खाना: - “पेज” एक किस्म का तरल भोजन होता है, जिसमें पौष्टिकता भरपूर होती है. आदिवासी सदियों से पेट भरने के लिये पेज का उपयोग करते आ रहे हैं. ये पेज कई चीजों से बनाते हैं और इनकी तासीर भी अलग-अलग होती है. जैसे गर्मी में “मड़िया” पेज पिया जाता है, जो जिस्म को ठंडा रखने के साथ लू से भी बचाता है. आज भी मजदूर वर्ग अपने साथ दोपहर के खाने में पेज लेकर आते हैं. उनका कहना है कि इससे थकान नहीं होती

व खाने के बाद सुस्ती नहीं आती. ये जिस्म को तरो-ताजा रखता है. महुआ का पेज बनाने के लिये महुआ, डूमर व इमली के बीज को कूटकर मिक्स किया जाता है. फिर इसे पकाकर पेज बनाया जाता है. इसका जायका महुआ की वजह से मीठा होता है. एक समय महुआ पेज बहुत ही लोकप्रिय था. वक्त के साथ-साथ इसका प्रचलन भी बंद हो गया है. आज की नस्ल तो महुए का पेज भी बनता था, इस बात से भी अनजान है. अफसोस कि एक पौष्टिकता से भरपूर खाना आदिवासी मीनू से निकलकर इतिहास के पन्नों में समा गया.

- 5) **महुआ का आचार:** - दक्षिण भारत, खासकर आंध्र प्रदेश में महुए का आचार बनाया जाता है. छत्तीसगढ़ के इलाके के आदिवासी इससे अनभिज्ञ हैं. हो सकता है इनके पूर्वज महुए का आचार बनाना जानते रहे हों पर आज की नस्ल इससे अनजान है. मैं बुजुर्गों से भी इस बारे में पूछा पर वो कुछ बता नहीं पाये. महुआ, नमक व जिर्गुण्डा को मिलाकर आचार बनाया जाता है. इसका स्वाद खट्टा मीठा होता है. ये

अपने अनूठे जायके की वजह से बाकी आचारों से अपना अलग मुकाम रखता है.

- 6) महुआ-चावल: - चावल को पकाते समय थोड़ा सा महुआ भी डाल देते हैं. इस तरह तैयार भोजन में लज्जत व पौष्टिकता कई गुना बढ़ जाती है. इस विधि से तैयार किया गया भोजन कहीं-कहीं आज भी देखने को मिलता है.
- 7) खुरसा-महुआ-सराई: - खुरसा आमतौर पर नदी, तालाबों के किनारों पर छोटे-छोटे पौधों में फलता है. ये कुछ-कुछ केंवाच जैसा होता है, पर इसमें कांटा नहीं होता है. महुआ, खुरसा व सराई (साल) के बीज को एक साथ उबालकर खाते थे. आदिवासियों में ये भोजन भी कभी बहुत पसंद किया जाता था.
- 8) लाटा - देशी लालीपाप: - इसे जिरा के बीज को भुने हुए महुए में मिलाकर बनाते हैं. इस मिश्रण को पीसकर पतली कमची में लपेटकर खाते हैं. कभी ये बच्चों में काफी लोकप्रिय था. इसे बनाना इतना आसान था कि बच्चे स्वयं ही इसे तैयार कर लेते थे.

महुए को भूनकर तिल, गुड़ व सराई (साल) के बीज को मिलाकर कूटते हैं. इसे भी लालीपाप की तरह बांस की पतली कमची में लपेटकर खाया जाता है.

- 9) **कोहा की सब्जी**: - महुए के फल को “टोरी” कहते हैं. पकी हुई टोरी को फोड़कर बीन (बीज) तेल निकालने के लिये अलग की जाती है व छिलके अलग कर किये जाते हैं. इसी छिलके को “कोहा” कहा जाता है. इसे कच्चा भी खाया जाता है और मवेषियों को भी खिलाया जाता है. इसका स्वाद मीठा होता है. कोहा की सब्जी भी बनायी जाती है. कोहा की सब्जी अपने जायके के कारण अपना अलग स्थान रखती थी. पौष्टिकता से भरपूर ये सब्जी भी वक्त के सामने बेबस होकर किस्से-कहानियों में ही सिमटकर रह गई है.

- 10) **महुआ का दवा के रूप में उपयोग**: - आदिवासी संस्कृति में महुए के उपयोग के कई रूप प्रचलित हैं. महुआ का एक उपयोग दवा के रूप में भी है. आदिवासी अपनी बीमारियों का इलाज सदियों से खुद ही करते आ रहे हैं. उन्हें कई किस्म की जड़ी-बूटियों

का ज्ञान है. बात-चीत के दौरान महुआ को भी दवा की तरह इस्तेमाल करने की बात सामने आई. परम्परागत रूप से जो इनके जीवन महत्वपूर्ण अंग हैं और सालों से जिन पर इन्हें यकीन है उन दवाओं पर चर्चा लाजमी है -

क) दस्त की दवा के रूप में उपयोग: - सराई (साल) के बीज को उबालकर तेल निकालते हैं व साल के बीज के बचे अवशेष को राख में मिलाकर सुखाते हैं. महुआ को अलग-अलग पकाते हैं. साल बीज के अवशेष जब सूख जाते हैं तो उन्हें धोकर, पके हुये महुए के साथ मिलाकर पुनः पकाते हैं. पकाने के दौरान जो तेल निकलता है उसे दस्त की दवा के तौर पर खाते हैं. ये दवा इतनी कारगर है कि एक-दो खुराक में ही दस्त पूरी तरह ठीक हो जाता है.

ख) पैरों की सूजन के लिए: - भुने हुए महुए को खाने से पैरों की सूजन चली जाती है. पहले गर्भवती महिलायें इसका सेवन नियमित रूप से किया करती थीं. आज ये भी प्रचलन में नहीं है.

- ग) बेबती (छोटी-छोटी फुंसी) की दवा: - महुआ को पानी में डालकर उबालते हैं. उस उबले हुये पानी में जंगली घास मिलाकर लेप तैयार करते हैं. इस लेप को सुबह शाम लगाने से बेबती ठीक हो जाती है.
- घ) कमजोरी की दवा-महुआ-अलसी: - गेहूं का आटा व चना बेसन को घी में भुनते हैं. इसमें भुने हुये महुए को मिलाया जाता है. कुटी हुई अलसी को मिलाकर मिश्रण तैयार किया जाता है. इस मिश्रण को रोज खाने से कमजोरी दूर होती है.
- ड) मसूड़ों से खून आने पर महुआ का दातून करते हैं. इससे खून आना बंद हो जाता है. मुंह की बदबू भी इससे खत्म हो जाती है. ये दांतों को मजबूत भी बनाती है.
- च) टोरी की खली जलाने से मच्छर व दूसरे जहरीले कीड़े मकोड़े भाग जाते हैं. ये अच्छी मस्किटो क्वाइल है.

छ) टोरी की खली जैविक खाद की तरह खेतों में डाली जाती है. इसमें रासायनिक खादों की तरह हानिकारक तत्व नहीं होते. इसे इको-फ्रेंडली खाद कहा जा सकता है. ये जमीन की उपजाऊ क्षमता को बढ़ाती है.



महुआ का धार्मिक महत्व

महुए का धार्मिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है. आदिवासी संस्कृति में महुआ व इसकी शराब के बिना कोई धार्मिक रस्म पूरी नहीं होती है. आज भी आदिवासी अपने देवताओं व देवगुड़ी में महुआ की दारू का चढ़ावा पहले चढ़ाते हैं. आदिवासी बैगा-गुनिया भी बिना महुआ दारू का सेवन किये किसी भी प्रकार का धार्मिक अनुष्ठान नहीं करते हैं. आदिवासियों का धार्मिक जीवन व महुआ एक दूसरे के पूरक हैं. ये संबंध सदियों से चला आ रहा है और आज भी ज्यों का त्यों बरकरार है. समय के चक्र के बावजूद ये पहलू आज भी बचा हुआ है. ये बात और है कि पढ़ा लिखा वर्ग जो अपनी मूल आबादी से अलग रहता है, वो अपने को इन आयोजनों से अलग रखता है. साथ ही अपने आस-पास ऐसे धार्मिक आयोजनों को करने से बचता नजर आता है.

आदिवासी संस्कृति में महुआ को असली फूल माना जाता है क्योंकि इसका सूखा हुआ फूल पानी में डालने पर फिर से ताजे फूल के रूप व आकार में आ जाता है. इसलिये इसे ही देवताओं पर चढ़ाया जाता है. धार्मिक आयोजनों में

महुआ का विशेष महत्व है. इसके बिना ये आयोजन पूर्ण नहीं माने जाते. इनमें से कुछ हैं: -

कमर छट: - पुत्र की लम्बी उम्र की कामना के लिये महिलायें ये उपवास रखती हैं. इसके प्रसाद में महुआ विशेष रूप से सम्मिलित होता है. बिना महुआ के प्रसाद को पूर्ण नहीं माना जाता है.

पित्रपक्ष (पितर): - पित्रपक्ष में अपने पूर्वजों को तरपने (तर्पण) के लिये महुए का पत्ता उपयोग किया जाता है. पहले दिन से एक-एक पत्ते में रस्में की जाती हैं. इस प्रकार तेरहवीं में 13 पत्ते हो जाते हैं. इन पत्तों के साथ पूर्वजों का तर्पण किया जाता है. कहते हैं पित्रपक्ष में महुआ के पत्ते के महत्व का अंदाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि इसके बिना तर्पण को पूर्ण नहीं माना जाता है.

महुआ और आदिवासी अर्थव्यवस्था

आदिवासी अर्थव्यवस्था महुआ व इससे निर्मित सामग्रियों के आस-पास ही घूमती है. महुआ और इसका फल टोरी जहां नकद फसल की तरह आदिवासियों की अच्छी खासी आय का साधन है, वहीं महुआ से बनने वाली शराब भी कुटीर उद्योग की तरह साल भर कमा कर देती है. कानूनन इसे उद्योग का दर्जा नहीं मिला है और न ही इस तरह शराब बनाकर बेचने को वैधता हासिल है, फिर भी इस सच्चाई को नज़र अंदाज़ नहीं किया जा सकता है कि आदिवासियों की आय का बहुत बड़ा हिस्सा इसी व्यवसाय से आता है. स्थानीय बाज़ार, मेला मड़ाई व त्यौहारों के दिनों में तो महुआ दारू की आय में कई गुना वृद्धि हो जाती है. आदिवासी आय के इसी साधन से त्यौहारों, मेला-मड़ाई व बाजार का खर्च वहन करते हैं.

आदिवासी समाज सदियों से स्वपोशी रहा है. प्रकृति व्दारा प्रदत्त चीजों से अपना सुखी जीवन निर्वाह करते आये हैं. बाज़ार पर इनकी निर्भरता बिल्कुल नहीं थी. वे अपने दैनिक जीवन की सारी ज़रूरतें जंगलों से आसानी से पूरी कर लेते थे. इन्हें बाहर से सिर्फ नमक लेना पड़ता था और

उसके लिये भी इन्हे पैसे की जरूरत नहीं थी. ये वस्तु विनिमय के ज़रिये नमक लेते थे यानि ये नमक की ढेरी के बराबर चिरौंजी या दूसरी वनोपज या मुर्गी/मुर्गा से अदला-बदली किया करते थे. कपड़े लेने का भी यही तरीका था. धीरे-धीरे इनकी भी निर्भरता बाज़ार पर बढ़ने लगी. महुआ आज भी इन्हें उपभोक्तावादी होने से रोकता है. महुआ का फल टोरी है, जिसका तेल बहुउपयोगी होने के साथ-साथ इनकी आय का स्रोत भी है. इस तेल की औद्योगिक क्षेत्र में अपार संभावनायें हैं. जहां एक तरफ इस तेल की मांग बेकरी, सौंदर्य प्रसाधन, साबुन आदि उद्योगों में है, वहीं कई नये क्षेत्रों में भी इसकी संभावनायें तलाशी जा सकती हैं.

इस सिक्के का दूसरा पहलू ये है कि महुआ व इसका फल आज भी बिचैलियों के बीच फंसा हुआ है, जिससे, इससे जुड़े लोगों का आर्थिक शोषण हो रहा है. इन तक वो लाभ नहीं पहुंच रहा है जिनके ये हकदार हैं. फरवरी से अप्रैल के बीच बिचैलिए जिस कीमत पर महुए को खरीदते हैं, 4-6 माह बाद उससे ढाई से तीन गुना कीमत पर बेचते हैं. इतने वक्त कम में इतना ज्यादा फायदा बहुत कम कारोबारों में होता है. महुआ का फल टोरी तोड़ने के लिये

आदिवासी जान जोखिम में डालकर ऊंचे-ऊंचे दरख्तों पर चढ़ जाता है. काफी मेहनत के बाद इसे बिचैलियों को काफी कम कीमत में बेचा जाता है. जिस हिसाब से औद्योगिक क्षेत्र में टोरी की मांग है और इससे बनने वाले उत्पादों की कीमत है, चाहे वो सौंदर्य प्रसाधन हों, साबुन हों, बेकरी प्रोडक्ट हों, उस हिसाब से इन्हे उतना मेहनताना नहीं मिल पाता, जिसके ये सही मायने में हकदार है। कहीं न कहीं सरकारी नीति भी इसके लिये जिम्मेदार है जो व्यापारियों की हिमायती नज़र आती है।

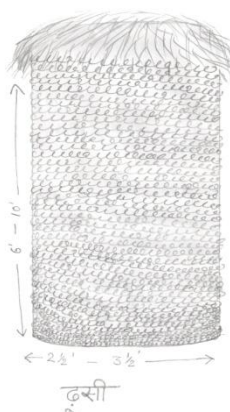
महुआ और स्थानीय ज्ञान व तकनीक

संस्कृति व परम्पराओं में ज्ञान का भंडार छुपा रहता है. बस देखने का नज़रिया चाहिये. आदिवासी संस्कृति और परम्पराओं में भी ज्ञान व तकनीक के कई बेमिसाल नमूने हैं. अगर हम महुए की ही बात करें तो इसके भण्डारण की तकनीक अपने आप में अनोखी है. इससे परम्परागत शराब बनाने की विधि तो विश्व की प्राचीनतम तकनीकों में से एक है. टोरी से तेल निकालने की विधि आदिवासी विज्ञान का बेहतरीन नमूना है.

ढूसी - महुआ भण्डार गृह

परम्परागत रूप से आदिवासी समाज में महुआ व धान को सुरक्षित रखने के लिये “ढूसी” का उपयोग किया जाता था. अब इसका उपयोग लगभग बंद हो गया है. कहीं-कहीं ये विरासत आज भी ज़िन्दा है. “ढूसी”, दिखने में रस्सी से बने बड़े सिलेण्डर जैसी होती है. ढूसी का आकार सामग्री की मात्रा पर निर्भर करता है. इसकी कोई निश्चित मोटाई या ऊंचाई नहीं होती. ये वस्तु की मात्रा व रखने की जगह की क्षमता अनुसार बढ़ाई-घटाई जाती है. चूंकि इसका निर्माण व महुए का रखना एक साथ होता है इसलिये

“ढूसी” का निर्माण व महुए का भण्डारण एक साथ चलने वाली प्रक्रिया है. ज्यों-ज्यों सामग्री “ढूसी” में रखते जाते हैं त्यों-त्यों “ढूसी” अपना आकार लेती जाती है.



“ढूसी” बनाने के लिये पैरा (धान की पुआल) की एक इंच मोटी और लम्बी रस्सी हाथों से बरकर बनाई जाती है जिसे स्थानीय भाषा में “बेट” कहते हैं. बेट बनाने के लिये 3-4 दिन से लेकर हफ्ता भर वक्त लग जाता है. बेट तैयार होने के बाद भण्डारण की जाने वाली महुए की मात्रा के हिसाब से ढूसी की गोलाई व ऊंचाई निर्धारित की जाती है. इसकी गोलाई नापने के लिए “कुटेन” का प्रयोग करते हैं. कुटेन रस्सी का बना छल्ला (रिंग) होता है.

इसके सहारे ढूँसी सही नाप व आकार की बनाई जाती है। कुटेन को पहले उस जगह जमीन पर रखते हैं तहां ढूँसी बनाना है। फिर इसके अंदर गोलाई में “बेट” को गोल ऊपर की तरफ सरकाया जाता है। जब “ढूँसी” पूरी तरह तैयार हो जाती है तो कुटेन ऊपर से बाहर निकाल लिया जाता है।

एक कुटेन से कई ढूँसी बनाई जा सकती हैं। कुटेन को जमीन पर रखकर इसकी गोलाई के अंदर बेट को गोलाई में बिछाकर पेंदी बनाई जाती है। जैसे टुकनी में बांस की पतली कमची को गोलाई में लपेटा जाता है। गोलाई के अंदर पैरा व धान का भूसा (कोढ़ा) की मोटी परत बिछाई जाती है, जो ढूँसी व महुआ को नमी से बचाती है। लपेटते हुए जब कुटेन के सिरे तक बेट पहुंचता है तब ढूँसी ऊपर की तरफ आकार लेने लगती है। इसमें महुए को दबा-दबा कर भरते हैं साथ ही बेट को गोलाई में लपेटते जाते हैं। अंदर की तरफ किनारों में पैरा भी सहारे के लिये डाला जाता है। इससे महुआ ढूँसी से बाहर नहीं निकलता। कुटेन इसकी गोलाई को सही आकार देने में मदद करता है। आमतौर पर 6-8 फीट ऊंची ढूँसी बनाई जाती है। महुआ के साथ कुसुम का पत्ता भी ढूँसी में डाला जाता है। इससे

महुए में घुन नही लगता और रंग व क्वालिटी अच्छी बनी रहती है. घर की छत (छानी) दूसी की ऊंचाई निर्धारित करती है. अगर छत नीची है तो दूसी की ऊंचाई कम होगी, क्योंकि इसमें सामग्री ऊपर की तरफ से डाली व निकाली जाती है. इसलिये इसे छत से दो फिट नीचे ही रखा जाता है.

दूसी को इस खूबी से बनाया जाता है कि इसमें रखी चीजों को मौसम की मार छू भी नहीं सकती. यहां के लोग ज्यादातर 2-3 साल में ही दूसी से चीजें निकाल लेते हैं क्योंकि इन्हे उनकी जरूरत पड़ती है. एक आदिवासी बुजुर्ग ने बताया कि उनके घर में दूसी से 5 साल बाद भी चीजे निकाली गईं और निकालने पर सामग्री पूरी तरह से फ्रेश थी.

मुझे इस बारे में नही पता कि अधिकतम कितने दिनों तक दूसी में सुरक्षित भण्डारण किया जा सकता है. हां ये अलग शोध का विषय ज़रूर हो सकता है. बहरहाल दूसी आदिवासी ज्ञान व तकनीक का बेहतरीन नमूना है जो तकरीबन खात्मे की कगार पर खड़ा है.

पिटोला व पेड़ीरूख (तेल निकालने की मशीन)

महुआ के फल, जिसे स्थानीय भाषा में टोरी कहते हैं, से बहुउपयोगी तेल निकलता है. वास्तव में इसे वनस्पति घी कहना ज्यादा मुनासिब होगा क्योंकि ये गाढ़ा व सामान्य तापमान पर जमा हुआ रहता है. खैर आदिवासियों द्वारा टोरी से तेल निकालने की प्राचीनतम तकनीक को पिटोला व पेड़ीरूख के नाम से जाना जाता है.

पिटोला

एक दिन एक आदिवासी बुजुर्ग से बातचीत करते समय एक नई चीज मुझे जानने को मिली. आदिवासी समाज तेल निकालने के लिये पहले पिटोला का उपयोग करता थे. दिखने में ये छोटी टोकनी नुमा होता है. 10 इंच समतल (फ्लैट बाटम) करीब एक फीट उंचा व गोलाई में 6" इंच का मुंह होता है। पिटोला को गुदाल पेड़ (एक किस्म का जंगली झाड़) की छाल से हाथों से बुनकर बनाया जाता है. इसे बनाने वालों की तादाद बहुत कम है. 4-5 गांवों में कोई एक ही आदमी पिटोला बनाता है. सबसे मजेदार बात है कि इन्हें कहने पर ही ये पिटोला बुनते हैं. रेड़ीमेड़ बनाकर नहीं रखे रहते हैं. पिटोला बनाने

की नकद मजदूरी नहीं दी जाती है और न ही नकद की मांग की जाती है. जब पिटोला तैयार हो जाता है तो बनवाने वाला उसी नये पिटोला में भरकर एक पिटोला धान बतौर नज़राना देता है. मैं नज़राना इसलिये कह रहा हूं कि इसे मजदूरी नहीं कहा जा सकता. एक पिटोला में एक-डेढ़ किलो धान से ज्यादा नहीं समा सकता और जैसी मेहनत पिटोला बनाने में करनी होती है उसके लिये यह मजदूरी बहुत कम है. पिटोला बनाने के लिये घने जंगलों से “गुदाल” नामक झाड़ को ढूंढकर उसकी लम्बी-लम्बी छाल निकाली जाती है. इन छालों की गठरी को कंधों पर रखकर घर लाया जाता है. दो-तीन दिन की कड़ी मेहनत से पिटोला हाथों से बुना जाता है. जरा सोचिए, इतनी मेहनत की मजदूरी क्या सिर्फ एक-डेढ़ किलो धान हो सकती है, जबकि आज उस इलाके के वे इकलौते कारीगर हैं जिसे ये हुनर आता है।

पिटोला गुदाल पेड़ की छाल से बनाया जाता है. इसकी छाल बहुत ही लचीली होती है. चूंकि तेल निकालने के लिये पिटोला को बार-बार “पेड़ी रूख” में दबाना पड़ता है इसलिये इसका लचीला होना ज़रूरी है. बांस से भी पिटोला बनता है, लेकिन इसमें वो लचीलापन नहीं होने की वजह

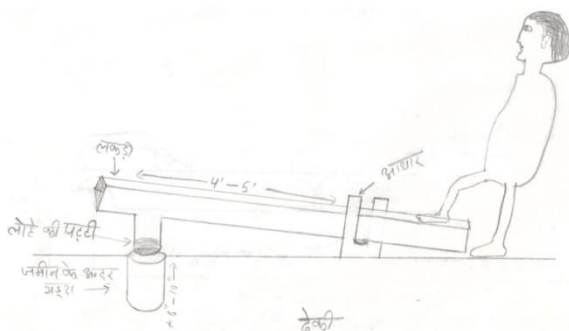
से यह एक-दो बार के इस्तेमाल में ही टूट जाता है। इसलिये बांस का पिटोला उतना कारगर साबित नहीं होता है।

तेल निकालने की विधि

“टोरी” को फोड़कर छिलका अलग किया जाता है। बीज (बीन) को “ढेकी” में कूटकर पाउडर बनाया जाता है। “ढेकी”, लकड़ी का 4-5 फीट लम्बा 6 इंच मोटा टुकड़ा होता है, जिसके सिरे पर 8-10“ इंच लम्बा “T” (टी) लगा रहता है। दूसरे सिरे में एक “Y” आकार की लकड़ी का आधार लगा रहता है। आधार के ऊपर लेटाकर इस प्रकार रखते हैं कि “T” वाला सिरा जमीन में किये गये गड्ढे की तरफ रहे। इसी गड्ढे में वस्तु को रखकर पीसा व दला जाता है। इसके दूसरे सिरे को पैरों से दबाकर चलाया जाता है। इसे छोटी, पैरों वाली ओखली कहा जा सकता है।

टोरी के बीन का पाउडर बन जाता है तो इसे भाप में पकाया जाता है। इसके लिये चूल्हे पर बड़े बर्तन में पानी रखा जाता है। उसके ऊपर बारीक जालीदार पैंटी वाली कढ़ाई में टोरी के पाउडर को अच्छी तरह भाप में गर्म किया जाता है। गर्म पाउडर को पिटोला में दबा-दबा कर

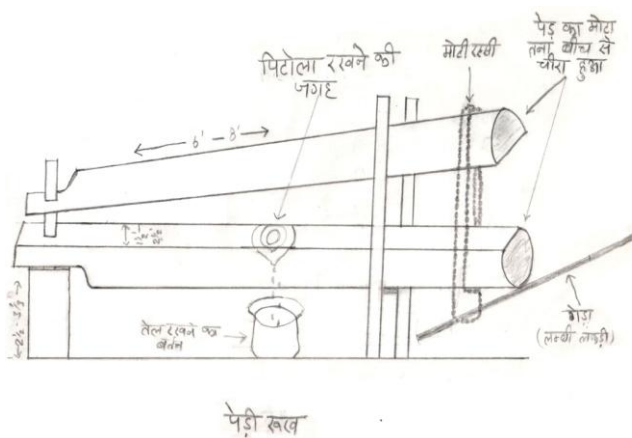
भरते हैं. पिटोला को पेड़ीरूख में रखकर दबाते हैं जिससे तेल रिसने लगता है. जब तेल रिसना बंद हो जाता है तो फिर से भाप में पकाकर पेड़ीरूख में दबाया जाता है. ये पूरी प्रक्रिया 4-5 बार अपनाई जाती है. इससे पूरी तरह तेल निकल जाता है.



पेड़ीरूख

सरई (साल) के पेड़ का मोटा 6-8 फिट लम्बा तना लेकर बीच से बराबर दो भागों में चीरा जाता है. इसे लेटी अवस्था में जमीन से दो फिट ऊंचा रखा जाता है. एक छोर पर तने के दोनों पाट दूसरी लकड़ी के खम्बे के खांचे में फंसे होते हैं. दूसरी तरफ आधार पर नीचे वाला पाट फंसा रहता है, जिस पर पिटोला रखने की जगह व तेल

रिसने के लिये काटकर खांचे बनाए जाते हैं. ऊपर वाले पाट को एक सिरे से ऊपर उठाया जा सकता है ताकि पिटोला रखा जा सके. पिटोला रखकर दोनो पाटों को सिरे में रस्सी बांधकर दबाया जाता है. रस्सी कसने के लिये 6 फिट लम्बी लकड़ी (गेड़ा) का इस्तेमाल किया जाता है. नीचे वाले पाट के नीचे बर्तन रखा जाता है, जिसमें तेल जमा हो जाता है. इस प्रक्रिया से साफ और मिलावट रहित तेल मिलता है. इस प्रक्रिया से 40-50 साल पहले तक तेल निकाला जाता था. आज के बहुत से युवा पिटोला का नाम भी नहीं जानते.



इस गांव में 2-3 पिटोला, पेड़ीरूख थे, जो आसपास के गांवों के लिये पर्याप्त थे. बची हुई खली मवेशियों को खिलाने के व खेतों में खाद की तरह इस्तेमाल की जाती है. पिटोला के बाद लोग घानी में तेल पिरोते थे. आज मशीने आ गई है।

महुआ शराब

यहां के आदिवासी आज भी अपनी परम्परागत विधि से ही महुआ की शराब बनाते हैं. इससे मिलावट रहित शुद्ध शराब मिलती है।

विधि-

महुआ को पानी में पूरी तरह से डुबोकर बर्तन के मुंह को कपड़े से ढंककर अंधेरे कमरे में रखा जाता है. इसके लिये मिट्टी की हांडी इस्तेमाल की जाती है. कुछ जगहों में हांडी को गर्दन तक जमीन में भी गाड़ दिया जाता है ताकि जमीन की गर्मी से महुआ जल्दी तैयार हो जाये. इसे “पास” आना कहते हैं. महुए को “पास” लाने के लिये आजकल प्लास्टिक के ड्रमों व बल्लियों का इस्तेमाल किया जा रहा है. महुए में “पास” 2-3 दिनों में आता है.

ये प्रक्रिया गर्मी में जल्दी होती है व ठंड के दिनों में थोड़ा ज्यादा वक्त लगता है. जब महुआ पूरी तरह पानी में भीगकर फूल जाता है और उससे विशेष प्रकार की गंध आने लगती है तो इसे “पास” आना कहते हैं. इसके पानी का स्वाद मीठा होता है.

“पास” आने के बाद महुआ का पानी अलग कर, नया पानी मिलाया जाता है. करीब तीन चैथाई बर्तन महुआ व पानी से भरा जाता है. इसके ऊपर मिट्टी की ऐसी हांडी जिसके पेंदी में छेद हो को इस प्रकार रखा जाता है कि नीचे वाले बर्तन का मुंह पूरी तरह बंद हो जाता है. फिर इसे चुल्हे पर रखते हैं. भाप बाहर न निकले इसलिये मिट्टी गीली कर बर्तन का मुंह बंद कर दिया जाता है. मिट्टी की हांडी के अंदर मिट्टी की “झांझी” जो चप्पू जैसी होती है को इस प्रकार अंदर से बांधा जाता है कि ये लटकती रहे. झांझी से एक पाइप बांधा जाता है, जो बाहर डिब्बे में आकर जुड़ता है. इसी से शराब डिब्बों में एकत्रित होती है.

चूल्हा जलाने पर महुआ उबलने लगता है. इसकी भाप बीच की हांडी से होती हुई, पानी से भरे बर्तन से टकराकर ठंडी होती है व उसकी पेंदी में तरल की तरह चिपकती

जाती है और बूंदों के रूप में वापस “झांझी” में गिरती है. “झांझी” से होकर ये तरल पाइप के जरिये बाहर बर्तन में इकट्ठा होता है. इसे स्थानीय भाषा में “फूल्ली” कहते हैं. ये ज्वलनशील होता है. इसे आग के सम्पर्क से दूर रखा जाता है. “फूल्ली” में गर्म पानी तब तक मिलाया जाता है, जब उसे आग में डालने पर आग बुझ जाये. यही शुद्ध पारंपरिक देशी शराब है।

आदिवासी परंपराओं में बदलाव

आज आदिवासी परम्पराओं में बहुत बदलाव आ गया है. ये भी अपनी विरासत को छोड़कर आधुनिकता की अंधी दौड़ में शामिल हो गये हैं. इन सब के लिये कहीं न कहीं हमारी सामाजिक व्यवस्थायें, हमारी शिक्षा पद्धति और हमारी वे मान्यतायें जो आधुनिकता को ही प्रगति समझती हैं, दोषी हैं. एक तरफ हम देखते हैं कि सदियों में एकत्रित हुआ ज्ञान का विशाल भण्डार परम्पराओं के रूप में आदिवासियों के पास सुरक्षित हैं लेकिन दूसरी ओर हमारी शिक्षा प्रणाली उसे दकियानुसी समझती है. ज्ञान के इस भंडार को वह सामाजिक मान्यता नहीं मिल पाती है जिसकी ये हकदार है. हम स्कूलों-कालेजों में जो पश्चिमी ज्ञान, विज्ञान के रूप में परोस रहे हैं, उसका हमारी वास्तविक जड़ों से, हमारे सालों से परखे हुये ज्ञान से कोई संबंध नहीं है. यही वजह है कि आज का आदिवासी अपने ज्ञान को पिछड़ा हुआ समझता है व किसी को बताने में झिझक महसूस करता है. बचपन से ही हम उसे यही बता रहे हैं, जो लिखित में नहीं है, उसे ज्ञान नहीं समझा जाता है. आदिवासी ज्ञान लिखित में नहीं है.

अगर हम महुआ कि ही बात करें तो इतना पौष्टिक आहार जो हमारे रीति-रिवाजों, धर्म-संस्कृति में रचा-बसा है; जिसका हम खान-पान, इलाज आदि में उपयोग करते थे, वो आज सिर्फ दारू बनाने की वस्तु के रूप में पहचाना जाता है. यहां भी परंपरागत दारू बनाने की विधि खत्म हो रही है. उसमें भी बाज़ारवाद के कारण मिलावट आती जा रही है. महुआ का फल टोरी, बहुउपयोगी होने के साथ-साथ आय का स्रोत भी है. इसके तेल की औद्योगिक क्षेत्र में अपार सम्भावनायें हैं. कभी ये तेल प्रमुख खाद्य तेल की तरह इस्तेमाल होता था पर आज इसका इस रूप में इसका उपयोग कम, बहुत कम हो गया है.